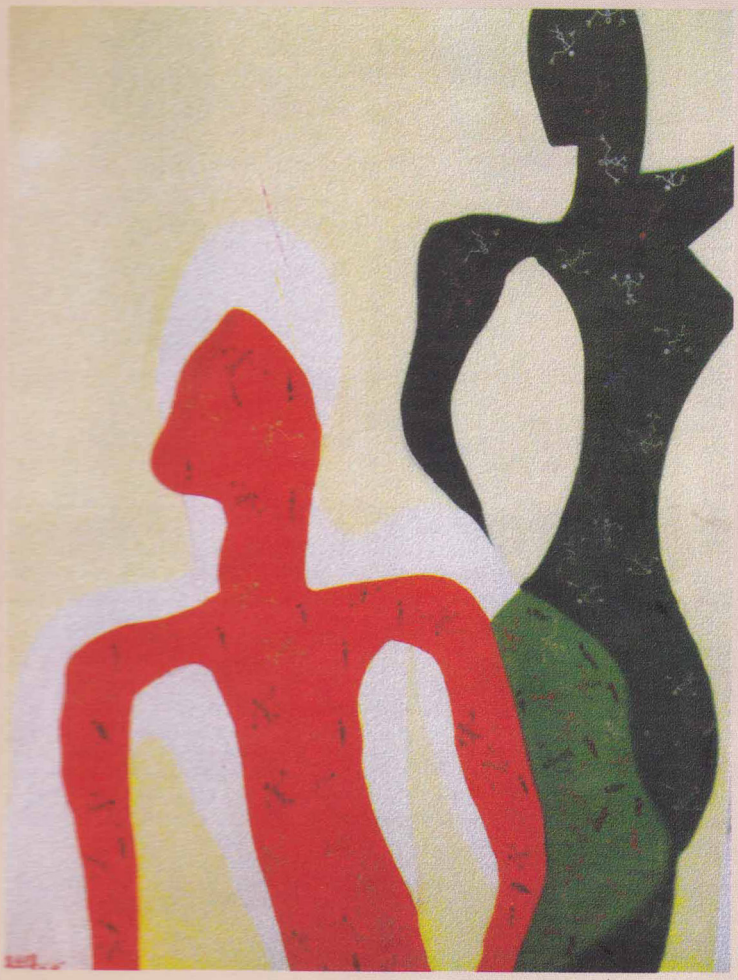

बहू–जुठाई

रमणिका गुप्ता

इन कहानियों की केंद्रीय शक्ति हैं नायिकाएँ, जो जीवन की विपरीत स्थितियों में बर्बरताओं और समाज की विकृतियों को झेलतीं, उससे जूझती रहीं, पर कभी थकी नहीं। अपनी अस्मिता का अहसास उनमें जबरदस्त था और था अपने होने का, अपने को जिन्दा रखने का पत्थर सा ठोस संकल्प। उनमें जिन्दा थी अपनी शर्तों पर जीने की जिद तो कहीं अपनी निर्मिति। ठीक अपनी सर्जक की तरह उद्दाम जिजीविषा और चुनौतियों से भिड़ जाने की दृढ़ता। हर कहानी में आत्मोपलब्धि अथवा मनोरथ-पूर्णता के साथ उभरने वाली ये नायिकाएँ भले ही अपनी निजी पहचान खोकर एक प्रेरक शक्ति का प्रतीकात्मक रूप ले लेती हैं, किन्तु लेखिका ने इनके जरिये पितृसत्तात्मक व्यवस्था की अमानुषिकता को रेखांकित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। प्रस्थान बिन्दु के रूप में वे सुसंस्कृत शहरी समाज को बता देना चाहती हैं कि आदिवासियों के वर्जनाहीन उन्मुक्त जीवन को लेकर उनके विश्वास कितने भ्रान्त रहे हैं। दरअसल पिछड़ेपन और हाशिए पर बने रहने की पीड़ा ने आदिवासी समाज के हृदय में प्रगति, विकास, सभ्यता और संस्कृति के नाम पर जिस आदर्श की प्रतिष्ठा की है, वह ब्राह्मणवादी और मनुवादी व्यवस्था की धूर्तताओं से दमकती सामन्तवादी व्यवस्था है। जाहिर है प्रगतिशीलता की भीतरी परतों में छिपी है पतनोन्मुख खाइयों का निर्माण करती रुग्ण मानसिकता, जिसने एक अदद 'कमाऊ हाथ' होने के बावजूद आदिवासी स्त्री को मध्यवर्गीय स्त्री की तरह 'जिंस' बना डालने का बीड़ा उठा लिया है। रमणिका गुप्ता की नायिकाएँ इस विडम्बना से जूझ कर प्रतिकार का महाख्यान रचती हैं।

रमणिका जी की स्त्रियाँ आदिवासी दलित समाज की निर्बल इकाइयाँ हैं—खटने-कमाने वाली औरतें; जो कोयला ढोते, लकड़ी काटते, निकोनी-कटनी करते, रेज़ा का काम करते, बालू-ईंट ढोते जिन्दगी की स्लेट पर व्यवस्था द्वारा लिखी इबारत को किसी ज्ञानी-ध्यानी से ज्यादा गहराई से पढ़-बूझ जाती हैं।

दिन-रात नशे में टुन्न शीतल के लिए प्यारी का

(शेष अगले फ्लैप पर जारी...)

बहू-जुठाई

(कहानी-संग्रह)

क्रम

भूमिका : खटने कमाने वाली औरतें	7
चिड़िया	13
चमेली	18
बहू-जुठाई	27
चन्दा मर नहीं सकती	44
परबतिया	63
जिरवा और जिरवा माय	76
प्यारी	96
खुश रहो	105
ज़िन्दा रहने के लिए	116
ललिता	126
वह जिएगी अभी	135

खटने कमाने वाली औरतें

ये कहानियाँ लंबे समय के अन्तराल को कवर करती हैं पर इनमें से अधिकांश कहानियों का भूगोल बिहार के छोटानागपुर क्षेत्र (अब झारखण्ड) से जुड़ा है। भारत के हर कोने का भूगोल ऐसी कहानियों से पटा पड़ा है पर लोग शायद इन्हें खोजते ही नहीं या अनदेखा करते हैं। ये एक लम्बे अंतराल के दौरान बीच-बीच में लम्बी चुप्पी के बाद लिखी गई कहानियाँ हैं। मूलतः मैं कविता ही लिखती रही हूँ। हाँ, किस्सागोई की आदत ज़रूर है किन्तु मैं उसे लिपिबद्ध नहीं करती थी। कोई प्लाट बहुत ही व्यथित करता था, तो उसे लिख लेती थी। कभी-कभी तो महीनों, वर्षों, कोई घटना, कोई पात्र, कोई नायिका, कोई वाक्य मन को मथता रहता था। उसका लिखना अनिवार्य हो जाता, तभी कलम उठाती।

मेरी कहानियाँ मेरी कविताओं की तरह ही प्रेरणा आधारित रही हैं। मेरी कहानियों की प्रेरणा-स्रोत भी स्वयं इन कहानियों की सजीव, जीवित नायिकाएँ रही हैं। नायिकाएँ, जो जीवन की विपरीत स्थितियों में बर्बरताओं और समाज की विकृतियों को झेलतीं, उससे जूझती रहीं, कभी थकी नहीं। उनमें अपनी अस्मिता का जबर्दस्त अहसास था और था अपने होने का, अपने को ज़िन्दा रखने का पत्थर-सा ठोस संकल्प। उनमें ज़िन्दा थी अपनी शर्तों पर जीने की जिद, तो कहीं अपनी निर्मिति का हठ। मुझे उनमें कहीं अपनी प्रतिच्छाया नज़र आती थी, शायद इसीलिए मुझे वे आकर्षित भी करती थीं। ये चलती-फिरती नायिकाएँ मेरे नारी-अस्मिता के संघर्ष और मेरे अनुभव क्षेत्र से जुड़ी रही हैं।

झारखण्ड के छोटानागपुर की वादियों और जंगलों की इन आदिवासी

औरतों ने उन दिनों रेल भी नहीं देखी थी। 1973 में कोयला खदानों के सरकारीकरण के पहले और बाद, मुख्यधारा के लोगों के साथ मेल-जोल के कारण वे एक मिली-जुली संस्कृति की, विकृतियों का शिकार तो बनती ही थीं, उसके साथ वे अपने अन्धविश्वासों का शिकार भी होती थीं। अपनी संस्कृति की ढीली होती पकड़ ने उनके समाज को भी लुँज-पुँज बना दिया है। इन मूल निवासियों ने मुख्यधारा के लोगों की विकृतियाँ तो ग्रहण कर लीं, जिससे उनकी सीधी-सादी संस्कृति अप्रासंगिक होती गई या फिर मुख्यधारा के लोगों ने ही उनकी सीधी-सादी स्वछन्द संस्कृति को विकृत रूप में ग्रहण कर, उनका आर्थिक और दैहिक शोषण किया।

इन दोनों प्रवृतियों की सबसे अधिक शिकार हुई औरत। हाँ औरत! सामाजिक-आर्थिक या कभी-कभी राजनीतिक स्तर पर यह आदिवासी औरतें कभी जिरवा माय सी डसी जाती हैं, तो कभी प्यारी की तरह छली, चमेली की तरह ठगी जाती हैं या फिर परबतिया की तरह समझौता करने पर मजबूर की जाती हैं। कोई-कोई तो चन्दा की तरह समझौता करते-करते अनर्थ को टालती रहती हैं। अन्त में जब उनका स्वाभिमान जागता है तो वे असम्भव से टकरा जाती हैं और एक उदाहरण बन जाती हैं। कतिपय जिरवा की तरह पुरुषों के हथकंडों का इस्तेमाल कर उन्हें मात देकर अपनी पहचान बनाती हैं। प्यारी हो या परबतिया, चन्दा हो या चमेली, ये अपनी पहचान बनाने को सदा आतुर रहती हैं। वक्ती समझौते इन नायिकाओं को न परास्त करते हैं न हतोत्साहित। ये सुनिश्चित जीत की उत्कट आशा लेकर जूझती रहती हैं। वर्तमान जो सामने है को ये जी भर कर जीती हैं। ये सभी खटने-कमाने वाली औरतें हैं कोयला ढोती, लकड़ी काटती, निकौनी-कटनी करती, खेती करती या सब्जी बेचती अथवा रेज़ा (कुली) का काम करती, बालू-ईंट ढोती औरतें।

ललिता जैसी दलित युवतियाँ स्वयं अपनी विकृत परम्पराओं और रूढ़ियों से ग्रस्त समाज की शिकार होती हैं, जो अशिक्षित एवं मनुवादी है। यह दलित समाज है लेकिन गैर दलित उच्च वर्गीय समाज की विकृतियों को आदर्श मानकर उनकी नक ल करता है। ललिता उस प्रवृति की भी शिकार है। वह एक औरत, एक लड़की, एक बेटी होने की त्रासदी तो भुगतती ही है, साथ ही हिन्दुवादी ब्राह्मणवादी मानसिकता

की भी मार उस पर पड़ती है, जिसमें प्रेम करना वर्जित है जिसमें कम उम्र में शादी होना ज़रूरी है, जिसमें औरत होना अपराध है। दलित होने के कारण वह तिहरे शोषण के लिए अभिशप्त है।

हाँ 'बहू-जुठाई' एक पूरे समाज की परिवर्तनशीलता की कहानी है। दलित समाज जो खुद को कर्म का, भाग्य का फल भोगने के लिए सब अपमानों को सम्मान मानने के लिए अभिशप्त है 'बहू-जुठाई' कहानी उस समाज के मनुष्यता प्राप्त करने की दास्तान है। बाबा साहब अम्बेदकर के शब्दों में जब उसे यह ज्ञान हुआ कि वह गुलाम है तो उसने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसे जब इलहाम हुआ कि वह मनुष्य है उसे जब ज्ञान हुआ कि दुःख क्या है तो उसमें मनुष्यता की पहली शर्त अभिव्यक्ति की शक्ति और स्वतंत्रता पाने का अहसास जगा और उसमें जगी स्वाभिमान की भूख अस्मिता की अभिलाषा।

शिक्षा ने उसे सोच दी, संघर्ष ने हौसला और संगठन ने बल, और उस 'पशुतुल्य' जूठन पर जीने वाले समाज ने फैसला किया कि बहू की डोली पहली रात ज़मींदार के घर 'जुठाने' के लिए नहीं जाएगी। जो जीवन भर 'जी हजूर' 'हुक्म हजूर' कहते रहे, वे मनुष्यता की बोली में गरज उठे 'नहीं जाएगी डोली'। वे अपनी बोली की गरज सुन कर चकित थे। अभिव्यक्ति की यह ताकत जानवर बना दिए गए मनुष्यों ने कैसे हासिल की 'बहू-जुठाई' कहानी में इसी संघर्ष की गाथा है। 'ज़िन्दा रहने के लिए' कहानी भी एक ऐसी जमात की कहानी है जो विस्थापन, शहरीकरण का शिकार हो कर ज़िन्दा रहने के लिए जंगलों को काट-काट कर कौड़ी के मोल शहर पहुँचा रही है। जो दारू-हँड़ियाँ का धन्धा करती है। वह ऐसा इसलिए नहीं करती कि ये उसका पुश्तैनी धन्धा है, बल्कि इसलिए करती है कि जीने के लिए दूसरा विकल्प नहीं है। जीने की मजबूरी हो तो चोरी की भी परिभाषा बदल जाती है।

यह सब झारखण्ड के छोटानागपुर के हरे-भरे पहाड़ों, झरनों, नदियों से घिरे वन प्रान्तर में होता है। खनिजों का राजा, हीरे का पिता कोयला यहाँ राज करता है। उन कोयला खदानों में, जंगलों में मज़दूरों की बस्तियाँ जगह-जगह से आए मज़दूरों की मिली-जुली संस्कृति, एक अजब समाँ बनाती हैं। यहाँ भाषा भी भिक्षु की खिचड़ी-सी है। यहाँ अन्धविश्वासी, रूढ़िवादी, अशिक्षित समाज के लोग जहाँ आधुनिक तकनीक और नई-नई मशीनों से रू-ब-रू होते हैं, वहीं वे उनके शिकार

भी होते हैं। कैसे आधुनिकता और रूढ़िवादिता को एक साथ ओढ़े ये लोग, अपने घर की दहलीज के भीतर कहीं अलग हो जाते हैं। घर के बाहर एकता के नारे लेकिन दहलीज के अन्दर सोचने का वही जातिवादी ढंग? लोकल (स्थानीय) और बाहरी, नया-पुराना, ऊँच-नीच, 'छोट-जात', 'बड़-जात।' सब घालमेल, गड्डमड्ड। पीसरेटिड, टाइमरेटिड, मंथलीरेटिड में बँटे कुशल-अकुशल मज़दूर, केवल पदनाम के स्तर पर ही नहीं, अपनी मानसिकता के स्तर पर भी ऊपर से प्याज की तरह एक, पर भीतर परत-दर-परत बँटे-बँटे हैं। स्वार्थों की टकराहट में चट्टानी एकता टूटती है पर उसमें पिसती है सबसे अधिक औरत। यहाँ हर समाज की तरह मर्द औरत का एक और बँटवारा भी व्याप्त है। चाहे मज़दूर समाज हो, चाहे किसान, सर्वहारा हो, चाहे मध्यम या उच्च, चाहे छोट-जात हो या बड़-जात, विश्व का पुरुष-अहम् औरत को एक ही नज़र से देखता है वह है उसका यौन-आकर्षण। औरतें स्वयं भी इस पुरुष-दृष्टि को पोसती हैं। जो इसका विरोध करती हैं वे सीता-प्यारी-चमेली-परबतिया-जिरवा या मौसी बन जाती हैं। ये सर्वहारा औरतें आज भी जुए में हारी जाती हैं डायन बता कर मार दी जाती हैं इसके बावजूद ये संघर्ष करना खूब जानती हैं। वे खटने में माहिर हैं। कटु अभावों से लड़ते-लड़ते वे जीने के लिए जूझना बचपन से ही सीख जाती हैं। यही जिजीविषा उन्हें जीवन का लक्ष्य देती है।

इन कहानियों में 1960 से आज तक के अन्तराल का समय, अपने सन्दर्भों-संस्मरणों, स्मृतियों, बदलती परिस्थितियों एवं बदलाव के साथ ज़िन्दा है। ये सभी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छपी हैं पर महीनों, वर्षों तक फाइल-बन्द रहने के बाद, कभी जब मुझे फुर्सत मिली या भारत यायावर जैसे किसी साहित्यिक मित्र ने जब इन्हें स्वयं ही निकाल कर छपने के लिए भेज दिया, तभी ये प्रकाश में आईं।

खैर, संकलन आपके सामने है। मैंने ये कहानियाँ स्वांतः-सुखाय नहीं लिखीं। दरअसल रामविलास शर्मा जी के सुझाव से मैंने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करना शुरू किया। उन्होंने कहा था ''वर्णनात्मक ही सही पर आप लिखें। उन अछूते लोगों के बारे में, जिनके बारे में, दुनिया नहीं जानती, आप अपने अनुभव दर्ज करें, ये बड़े रोचक ही नहीं, दस्तावेज़ी भी होंगे।'' इसलिए ये जो लिखा है सत्य है, यथार्थ है और अनुभवों पर आधारित है। इन नायिकाओं को, इन चरित्रों को, पात्रों को, आप

खदानों में, जंगलों में, हजारीबाग की सड़कों पर, बाजार में सब्जी बेचते या खरीदते अथवा झंडा चौक पर कतार लगाए काम की इन्तज़ार में बैठीं 'रेज़ाओं' (महिला कुली) में पहचान सकते हैं। कोयला खदानों में खटने वाली झोड़ा ढोतीं 'कामिनों' में 'चीह्न' सकते हैं या वनों से लकड़ी काट कर एन॰ एच॰ इकत्तीस, तीस या जी. टी. रोड पर शहरों-कस्बों की ओर मीलों पैदल जाती औरतों में ढूँढ सकते हैं।

अलबत्ता दो कहानियाँ अलग हैं। इनमें एक, 'चिड़िया' कहानी इस प्रतिस्पर्धी युग में टूटते सम्बन्धों, किसी अकेले पड़ जाने वाले व्यक्ति की कथा है जो एक नायिका दर्ज कर रही है। दूसरी अस्मिता के लिए संघर्षरत एक प्रबुद्ध समृद्ध नेतृत्व करती राजनीतिक स्तर पर हस्तक्षेप करने वाली महिला की कहानी है, जो जोख़िम भरी ज़िन्दगी जीने और मृत्यु से कई-कई बार रू-ब-रू होने के बावजूद भी ऑपरेशन से भयभीत है। जो अधूरे काम पूरे करने को लालायित है। जो पिछले स्नेहिल क्षणों को याद कर उनसे ऊर्जा हासिल करती है भविष्य के खतरे दिवास्वप्नों में झेलती है। राजनीति और समाज सेवा उसे परिवार से भी दूर कर देते हैं। बीमारी की अवस्था में वह परिवार से कुछ अपेक्षा रखती है, तो उलाहने सुनने पड़ते हैं। गहमागहमी से भरे अपने व्यस्त जीवन से दूर बीमारी की ये अकेली घड़ियाँ उसे जानलेवा दिखती हैं।

अपनी पहचान के लिए राजनीति व समाज-सेवा के क्षेत्र में संघर्षरत परिवार से दूर बीमारी या एकान्त क्षणों में वह इतनी अकेली हो जाती है कि किसी परिजन के प्यार और स्नेह के दो बोल भी, उसे जीने की आस और ऊर्जा दे देते हैं।

भारतीय राजनीति व समाज-सेवा में रत यह औरत पहचानी जा सकती है एक व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि जमात के रूप में।

मैं प्रायः लिख तो आधी शताब्दी से भी अधिक समय से रही हूँ पर मैंने प्रकाशन में कभी उतनी रुचि नहीं दिखाई। अब तक जो लिखा या आजतक जो लिख रही हूँ उसे डायरियों और फाइलों से निकालकर पन्नों पर उकेर आप के सम्मुख रख रही हूँ। वर्षों के अनुभव का निचोड़, ज़िंदगी का सच कड़वा भी, मीठा भी, कठोर पर जरूरी नहीं कोमल हो दृढ़ है सच है ठोस है जीवन्त है जिन्दा है कोरी कल्पनाओं पर नहीं धरती पर जिए हुए अनुभवों पर आधारित है।

रमणिका गुप्ता

चिड़िया

मनिका अस्पताल के स्पेशल वार्ड में भर्ती है। छत पर दो पंखे हैं, एक पंखे के रॉड के ऊपर वाले खोल में, जो छत से सटा है, दो चिड़ियों का घोंसला है। यह भी संभव है कि वे चिड़ा-चिड़ी भी हों पर न जाने क्यों दोनों एक साथ नहीं बैठते। चकवा-चकवी की तरह अलग-अलग ही रहते हैं। एक, जो मादा दिखती है, घोसले में घुसी है दूसरा जिसे शायद चिड़ा कहना ही ठीक होगा हालाँकि वह मादा चिड़ी से छोटा दिखता है, घोंसले के बाहर पंखे के खोल पर ही बैठा अन्दर की आहट सुन रहा है।

एकाएक चिड़िया उड़ कर कमरे के बरामदे में खुलने वाले दरवाज़े, जो कमरे के अन्दर की तरफ खुला था पर बैठ गई। फुदक कर चिड़ा ठीक दूसरे पल्ले पर बैठ गया। फट से चिड़िया दरवाज़े से उड़ी, जैसे कहीं स्प्रिंग दब गया हो। वह पंखे के पंख पर बैठ, अपनी चोंच रगड़ने लगी। चिड़ा भी ऐन उसी वक्त उड़ा और पंखे के ऊपर आ बैठा। आँख-मिचौनी या 'उड़ा-उड़ी' का उनका यह खेल देर तक चलता रहा।

चिड़ा इसका बेटा है या पति मालूम नहीं, चूँकि पशु-पक्षियों में बेटा बड़ा होकर पति बन जाता है और अपनी नस्ल बढ़ाता है। भेद केवल नर-मादा का होता है, चिड़ियों में वह भी पता नहीं चलता। उन में रिश्ते नहीं होते। चिड़िया अंडे देती है। वह अपने शरीर की सारी ऊर्जा और ऊष्मा समेट अंडों में साँस भरती है, जिसकी गर्मी से अंडे टूटते हैं और पैदा होते हैं नन्हें-नन्हें बच्चे, कोमल-कोमल, भोले-भोले, शक्तिहीन पंखों, मखमली रोंएदार डैनों, नन्हीं चोंच, छोटे पंजे और बन्द पंखों वाले। चिड़िया अपनी चोंच से उनकी चोंच में दाना डालती है, खिलाती है और